वैदिक व्याख्यान माला - द्वितीय व्याख्यान

वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम', किल्ला-पारडी, जि. सूरत

मूल्य छः आने

नि वे द न

आज सर्व विश्वमें साम्यवाद, समाजवाद, राष्ट्रीयसमाजवाद, व्यक्तिवाद ऐसे अनेक वाद उपस्थित हुए हैं। इस सम्बन्धमें वेदका सिद्धान्त क्या है यह इस समय जनताको विदित होना उचित है। इसलिये यह निबन्ध लिखा है। आशा है इससे वैदिक अर्थ सिद्धान्त तथा स्वामित्वका सिद्धान्त पाठकोंके ध्यानमें आ जायगा। और वे आजकलके प्रचलित वादोंके साथ इन सिद्धान्तोंकी तुलना करेंगे और जो योग्य होगा वह अपनायेंगे जिससे सबका कल्याण होगा।

यहां वैदिकशासन व्यवस्थामें स्वयं अपने अनुशासनपर अधिक बल दिया जाता था। जनताको अनुशासनशील बनानेकी ही शिक्षा इस समय दी जाती थी। स्वयं जनताही इस सुशिक्षासे जाग्रत होकर अपनी स्वेच्छा प्रवृत्तिसे ही आर्थिक समताको अपने राष्ट्रमें प्रस्थापित करती थी। जिससे अर्थमूलक झगडे नहीं बढते थे, विद्वेष नहीं बढता था और सबको शान्ति तथा आनन्द प्राप्त होता था। यह व्यवस्था कितनी अच्छी है ? ऐसी व्यवस्था राष्ट्रमें बनानेके लिये सबको प्रयत्न करना चाहिये।

स्वाध्याय-मण्डल ' आनन्दाश्रम '
किल्ला-पारडी (जि. सूरत)
१।११।५१

लेखक
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

ॐ

वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त

ब्रह्मा विष्णु महेश

पुराणकारोंने ब्रह्मा विष्णु और महेश ये तीन देव माने हैं और महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली ये तीन स्त्री शक्तियां उनके साथ रखी हैं। महासरस्वती 'विद्या' है, महालक्ष्मी 'धनसंपत्ति' है और महाकाली 'संहार-शक्ति' है। यहां धन विष्णुके पास रखा है जो संरक्षक देव है, यह बात विशेष महत्त्वकी है। संरक्षण तो प्रजाका करना होता है। प्रजाका पालन, प्रजाका संरक्षण, अन्तस्थ और बाहरके शत्रुओंसे प्रजाको सुरक्षित करके प्रजाका उत्तम योगक्षेम चलानेके लिये धन अवश्य चाहिये। इस लिये विष्णुके साथ लक्ष्मी है। यही "लक्ष्मी-नारायणका जोडा" है। नारायण ही विष्णु है। नरोंमें (नर-अयन) जो जाता है, नरोंके सुखदुःखोंका विचार प्रत्यक्ष उनकी स्थिति देखकर जो करता है, नरोंका संरक्षण जो करता है, वही नारायण है। इसीको प्रजारक्षणका कार्य ठीक तरह करनेके लिये धन चाहिये। यह लक्ष्मीनारायणके जोडेका भाव है। विष्णुके पास महालक्ष्मी है, सजी सजायी तरुणी सुन्दर स्त्री है, पर यहां संतान नहीं है। क्योंकि विष्णुभगवान्‌को प्रजारक्षणका कार्य इतना करना पडता है कि उसको अपने घरकी ओर देखनेके लिये भी फुरसत नहीं है, इसलिये उसे संतति नहीं हुई तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। प्रजा संरक्षणका कार्य जो राज्यका अधिकारी इतनी दक्षतासे करेगा, उसीसे प्रजाका संरक्षण उत्तम रीतिसे होगा।

विष्णुकी लक्ष्मी

विष्णुके पास प्रजासंरक्षण करनेके लिये ही संपत्ति है, उसके अपने उपभोगके लिये नहीं। जो धन है वह सब विष्णु प्रजारक्षणके कार्यमें लगाता है। इतना निःस्वार्थ राज्य-शासक होना चाहिये। यह आदर्श पुराणोंके लेखकोंने राजाओंके सामने रखा है। यह आदर्श आजके अपने विषय-के लिये हमें अत्यंत उपयोगी है, इसलिये पाठक इसे यहां अपने स्मरणमें रखें।

आजका मननका विषय "अर्थव्यवस्था और स्वामि-त्वका सिद्धान्त" है। 'अर्थ' का तात्पर्य 'धन, ऐश्वर्य, संपत्ति, वैभव, पैसा, सुवर्ण, रत्न, आदि पदार्थ, जिनसे मनुष्य अपने आपको धन्य मान सकता है। वह सब अर्थ है।' गौवें, घोडे, रथ, दासदासी, घर, भूमि, स्त्री, पुत्र, राज्य, धनधान्य यह सब धन है। जिसके पास यह होता है वह अपने आपको धन्य मान सकता है। यह धन है और यही अर्थ है। इसकी व्यवस्था वैदिक प्रणालीमें किस तरह थी यह इस मननमें देखना है।

अब 'स्वामित्वका सिद्धान्त' यह है कि जो धन है, उस-पर अधिकार किसका है और वेदमें इस विषयमें क्या कहा है, इसका निर्णय आज देना है। संक्षेपसे 'धन और उसके स्वामी' का विचार आज करना है।

समाजवाद और साम्यवाद

इस समय जगत्‌में 'समाजवाद, साम्यवाद और व्यक्ति-वाद' के आन्दोलन चल रहे हैं। अनेक देशोंके गुट बने हुए हैं और वे अपने सिद्धान्तोंके प्रचारके लिये बडी बडी दलबंदियां करके तथा बडे भयानक घोरसंहारक युद्ध करके, दूसरे पक्षको संपूर्णतया विनष्ट करनेमें लगे हुए हैं। ऐसे घोर समयमें वेदके ऋषि इसका विचार कैसा करते रहे, वैदिक सिद्धान्तको अपने वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवहारमें किस तरह लाते रहे और उन्होंने अपनी अर्थ व्यवस्था किस तरह की थी और धनके ऊपरके अपने स्वा-मित्वके विषयमें उनके अन्दरकी विचारधारा कैसी थी, इस विषयमें यदि निश्चित मत जनताके सामने रखा जाय,

तो उसका विशेष उपयोग होगा। इसी उद्देश्यसे यह विषय आज अपने मननके लिये लिया है। पाठक इसका इस दृष्टीसे विचार करें, और जो निश्चय होगा उसका आचार करनेके लिये सिद्ध रहें।

धन किसका है ?

वेदमें 'कस्य स्वित् धनं' (यजु० ४०।१) यह एक वचन है। 'किसका भला धन है' अथवा 'भला किसका धन है ?' यह इसका उत्तान अर्थ है। हम सबको ही धन किसका है, इसका विचार करना चाहिये। यह प्रश्न इतना सहज स्पष्ट होनेवाला नहीं है। इसलिये ही यह प्रश्न वेदमें पूछा गया है।

'कस्य स्वित् धनं' यहांका 'स्वित्' बडा महत्त्वका शब्द है।

स्वित् प्रश्ने च वितर्के च। अमर ३।२४१ मेदिनीकोश। 'स्वित्' का अर्थ प्रश्न है और वितर्क है। 'भला किसका धन है ?' यह प्रश्न हुआ। विचार करनेवाला इसका उत्तर देवे। 'वितर्क' का अर्थ नाना प्रकारके पक्षों और उपपक्षोंका विवेक है। इस विवेकके स्वरूपमें 'स्वित्' का भाव समझना चाहिये। धन किसका है, यहां क्या धन व्यक्तिका है, अथवा समाजका है, वा जातीका है, या राज्याधिकारीका है, वा विद्वानका है अथवा यज्ञके लिये है, किंवा परमेश्वरका है, ऐसे अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं, इन प्रश्नोंका विचार करके निर्णय देना चाहिये, इसका सूचक यहांका 'स्वित्' पद है।

'कस्य स्वित् धनं' यह प्रश्न है और विवेक करनेका स्थान भी यही है। अतः इसका सूक्ष्म दृष्टीसे विचार होना चाहिये। 'किसका भला धन है ?' यह प्रश्न है। परन्तु अनेक हकदारोंमें एकका धन है वा दूसरेका है, यह तर्क अथवा शंका भी इसमें है।

'स्वित्' का अर्थ 'निश्चय' भी है। इस निश्चयार्थ में 'क' का अर्थ 'प्रजापति' है। 'प्रजापतिर्वै कः' (श. ब्रा.) 'क' का अर्थ प्रजापति है। प्रजापति प्रजाके पालन कर्ताका नाम है। इस अर्थको लेकर 'कस्यस्वित् धनं' का अर्थ 'निःसंदेह सब धन प्रजापालकका है' ऐसा होता है। इस तरह 'कस्य स्वित् धनं' इस एक मंत्र भागके प्रश्न वितर्क और निश्चयरूप तीन अर्थ हुए। ये तीनों अर्थ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

किसका धन है !

'धन किसका है ?' यह पहिला अर्थ है। इसमें यह बोधित होता है कि, धनपर अधिकार चलानेवाले अनेक हैं, उनमेंसे धन सचमुच किसका है ? क्या हम नहीं जानते कि धनपर अनेक अधिकार नहीं चला रहे हैं ! जिसके पास धन है वह तो यह धन 'मेरा' है ऐसा कहता ही है। उसके पुत्र भी कहते हैं कि पिताका धन हमारा है, चोर डाकू लुटेरे कहते हैं कि धन हमारा है, इसके साथ राजा कहता है कि यह धन मेरा है और प्रजासे कर लेकर उस धनको अपने धनकोशमें वह रख भी लेता है।

इतने इसपर स्वामित्व बतला रहे हैं, इसके अतिरिक्त यज्ञकर्ता यज्ञके लिये धनिकोंके पास धन मांगता है और धनी उसको धन देते भी हैं। इस तरह अनेक लोग धनपर अधिकार बताते हैं, इसलिये मंत्रमें पूछा है कि 'कस्य स्वित् धनं ?' भला धन किसका है ?

निर्बलका धन नहीं

किसी निर्बलके पास धन रहा, तो बलवान आज्ञाता है और उसको थप्पड लगाकर उसका धन अपने पास ले लेता है। इससे धन निर्बलका तो नहीं कहा जा सकता। धन तो बलवानकाही है। क्योंकि निर्बलका धन सबल लूटता है और अपने अधिकारमें कर लेता है। निर्बलका अधिकार तो धनपर निःसंदेह नहीं हो सकता। इसलिये वेदमें अनेक वार कहा है कि—

सुवीरां रयिं आभर।

'उत्तम वीर जिसके साथ संरक्षण करनेके लिये हैं ऐसा धन हमें चाहिये।' अपने घरमें रहनेवालोंके अन्दर वीरता रहे, अथवा अपने पुत्र शूर हों, जो धनका संरक्षण कर सकें। तो वह सुवीरों अथवा वीर पुत्रोंसे संरक्षित धन अपने पास रह सकता है। इसलिये वीरका धन है ऐसा, हम कह सकते हैं।

वीर भी कभी न कभी मर जाता है, और सब धनको यहां छोडकर चला जाता है। इसलिये यह धन उस

वीरका है ऐसा हम कैसा कह सकेंगे ? मरनेके पश्चात् वह धन यहां ही पडा रहता है । इसलिये जैसा निर्बलका धन नहीं है वैसा ही शूरवीरका भी धन नहीं, क्योंकि शूरवीर भी मरते हैं और धन छोडकर चले जाते हैं । फिर किसका भला धन है ?

'प्रजापतिका धन है' (कस्य प्रजापतेः स्वित् धनं) निःसंदेह प्रजापतिका धन है ।

यहां शिल्पी आकर कहते हैं हम शिल्पोंका निर्माण करते हैं और हम उन शिल्पोंसे धन निर्माण करते हैं, इसलिये हम धन निर्माण करनेवाले होनेके कारण धन हमारा है । किसान भी ऐसा ही बोलते हैं ! खेती हम कर रहे हैं, धान्य हम उत्पन्न कर रहे हैं और ये पूंजीपति घरमें बैठकर सब मक्खन खा रहे हैं । यह नहीं चलेगा । धन उसका है जो जमीनकी सेवा करता है । मजदूरों और किसानोंके संग निर्माण हो रहे हैं और वे कहते हैं कि धन हमारा है ।

यहां वैश्य आकर बोलते हैं कि हम धन कारखानोंमें लगाते हैं, कलें और यन्त्र चलाते हैं, देश विदेशमें व्यापार करते हैं, नाना प्रकारकी योजनाएं करते हैं और इनसे धन निर्माण होता है, इसलिये इन योजनाओंको करनेवाले जो हम हैं उनका धन है । हम इन आयोजनाओंका प्रबंध न करेंगे तो शिल्पी मजदूर और किसान अकेले अकेले क्या कर सकेंगे । इसलिये बडी बडी आयोजनाओंका प्रबंध करनेवालोंका धन है ।

यहां क्षत्रिय आते हैं और कहते हैं कि हम सबका संरक्षण करते हैं, लूट मार होने नहीं देते, दंगे और युद्ध हुए तो अपने जीवन संकटमें रखकर भी हम तुम सबका और तुम्हारी सब आयोजनाओंका संरक्षण करते हैं । हम न रहें तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' होगी और बली गुण्डे निर्बलोंको खा जायंगे । इस कारण हमारे प्रयत्नोंसे धनका संरक्षण हो रहा है इसलिये धनपर हमारा अधिकार है ।

इसमें ब्राह्मण भी आकर कहते हैं कि हम पूजा पाठ, यज्ञ याग आदि करते हैं, दैवतोंकी शक्तिकी अनुकूलता संपादन करते हैं, इसलिये वृष्टि होती है, तुम्हारे सबके मनोंको शान्ति और समाधान मिलता है और उस समाधान वृत्तिसे तुम अनेक कार्य कर रहे हो और धन उत्पन्न हो रहा है, तुम्हारे सब व्यवहारोंके लिये जो अन्तःकरणका उत्साह चाहिये वह हमारे पूजा मंत्र पाठ होम हवनसे मिलता है, इसलिये धनपर अधिकार हमारा है ।

स्वित्का भाव

इस तरह अपने अपने पक्षका समर्थन करनेका नाम वितर्क है । 'स्वित्' अव्ययका यह भाव है, तर्क वितर्क कुतर्क करना और अन्तिम निर्णय तक पहुंचना वितर्कका काम होता है । यह 'स्वित्' पदका कार्य है । 'स्वित्' पदमें 'सु+इत्' ऐसे दो पद विभाग हैं । 'सु' का अर्थ उत्तम और 'इत्' में 'इ' धातु 'प्रगति, अध्ययन, ज्ञानसंपादन और स्मरण' अर्थमें है । इन दो विभागोंसे (सु+इत् स्वित् बना है अर्थात् इसका अर्थ 'उत्तम प्रगति, उत्तम ज्ञान संपादन, और प्राप्त ज्ञानका उत्तम स्मरण' करना है । 'कस्य स्वित् धनं' धन किसका होनेसे अथवा माननेसे सब जनताकी उत्तम प्रगति होगी, सबको उत्तमसे उत्तम ज्ञान मिलेगा और सबकी मेधा बुद्धि विशाल होगी इसका मनन करना यह स्वित्का भाव है । धन किसका है, किसके स्वामित्वमें धन रहे, इसके अन्दर जो प्रश्न है, और प्रश्नसे जो तर्क वितर्क चलाया जाता है, उसका आशय यह है । इस दृष्टिसे देखा जाय तो 'कस्य स्वित् धनं' इस मंत्र भागमें स्वित्का बडा ही महत्त्व है ।

धनसे युद्ध

सब झगडे, कलह, स्पर्धा और युद्ध धनके कारण ही होते हैं । वेदमें 'महाधन' नाम युद्धका है । युद्ध और धनका संबंध इस तरह है । धन न रहा तो कौन किससे किस लिये युद्ध करेगा ? इसलिये वेदने युद्धका मूलकारण धन माना है और इसीलिये 'कस्य स्वित् धनं' यह धनके स्वामित्वका विचार भी वेद ही बता रहा है, वह इसलिये कि यह ज्ञान लोगोंको हो और लोग युद्धसे पीछे हटें और आनंदमें रहें ।

मम-सत्यं

युद्धके नामोंमें 'मम-सत्यं' यह भी एक नाम वेदमें है । 'मेरा मत सत्य है, मैं कहता हूं वह सत्य है' इस आग्रहसे युद्ध होते हैं । इसीलिये 'कस्य स्वित् धनं

इसका विचार किया जा रहा है। यहां मेरी संमतिका दुराग्रह न हो उसपर झगडा खडा न हो। परंतु निष्पक्ष विचार हो और निर्णय किया जाय कि सचमुच धन किसका है ?

धनका बंटवारा

वेदमें युद्धनामोंमें ' वाजसातौ ' युद्धका नाम है। ' वाजसाती ' का अर्थ ' धनका बटवारा, धनका योग्य विभाग है। धनका विभाग करनेके समय झगडे होते हैं। इसलिये इस बंटवारेके समय सबको मालूम होना चाहिये कि धन किसका है। सचमुच धनपर किसका अधिकार है। यहां आग्रह नहीं होना चाहिये, परंतु वितर्क पूर्वक इसका सुयोग्य निर्णय होना चाहिये।

क्या मेरा धन है !

ऊपर अनेक पक्षोंकी संमतियां कही हैं, जिनमें प्रत्येक पक्षका वक्ता कहता है कि ' धन मेरा है। ' क्या यह सच नहीं है। ऊपरके सब वक्ता अपने अपने पक्षका धन है ऐसा कह रहे हैं, पर उनके ध्यानमें यह नहीं आरहा है, कि प्रत्येकने अपना ही धन है ऐसा कहा, तो उन सबकी ही संमतिसे धन उन सबका सांझा हे अथवा उनमेंसे किसीका भी नहीं, यह स्वयं सिद्ध हो जाता है।

प्रत्येक अपना धन है ऐसा कहेगा तो धन सबका होगा अथवा किसीका भी नहीं होगा। इसीलिय युद्ध करते हैं और जिसका पराभव होता है उसका धन विजयी योद्धा छीन लेता है और विजयी वीर कहता है कि ' यह सब धन मेरा है।' वीर अर्जुनका नाम ' धनंजय ' था। इसका अर्थ ही यह है कि वह युद्ध करता था, शत्रुका पराभव करता था, जय प्राप्त करता था और धन लाता था।

पर क्या इस तरह घातपात करके, लूटमार करके, खून खराबी करके धन लूटकर लाना मानवोंके लिये योग्य है ? यह तो पशुओंका काम है। वैसा ही मानव करते जांय ? यदि पशुओंसे मनुष्य श्रेष्ठ है, तो मननसे तर्क-वितर्क-सुतर्कसे ' कस्य स्वित् धनं ' किसका धन है इसका निर्णय मनुष्य करें, इसलिये यह प्रश्न वेदने सब लोगोंके सामने रखा है, कि मनुष्य पशु न बनें, मनुष्य मनन करके निश्चय करनेवाले मानव बनें और वे निश्चय करें कि ' धन किसका है ? '

एक सुलतान था, इसने अपनी आयु भरमें देश देशान्तर में जाकर, अपने साथ सहस्रों गुण्डोंको लेकर कतल और लूट करके अपने पास अगण्य धन इकट्ठा किया। पश्चात् वह मरने लगा, उस समय उसने कहा कि वह सब धन मेरे बिस्तरेके पास ढेर लगाकर रखो। सेवकोंने वैसा ही किया। हीरे, लाल, पाचू, मोती, सोना आदिके पर्वत जैसे ढेर उसकी मृत्यु शय्याके पास लगाये गये। वह उनकी ओर देखता था और रोता था। उस मृत्युके समय उसको पता लगा कि ' इस धनका स्वामी मैं नहीं हूँ। ' पर मृत्युके समय इस बातका ज्ञान उसको हुआ। पहिले निश्चय होता तो अच्छा हो जाता। इसीलिये वेदने कहा है कि ' कस्य स्वित् धनं ' इसका विचार करो ?

उसके मरनेके पश्चात् उसका पुत्र उस धनका स्वामी बना उसने भी अधिक लूटमार करके उस धनमें अधिक भरती की। वह भी मर गया और रोते रोते मर गया, पर अपने साथ उसमेंसे थोडा भी धन न लेजा सका, क्योंकि वस्तुतः वह धन उस व्यक्तिका नहीं था। उसने ' धन किसका है ' इसका विचार ही किया नहीं था। लूटमार करनेमें उसका समय चला गया। ' धन किसका है ' इस वचनका विचार करनेके लिये उसके पास समय ही नहीं रहा था !!!

नगरोंमें बडे बडे सेठसाहुकार धनी पूंजीपति अपने पास धनका संग्रह करके रखते हैं, मरते समय सब धनको यहां ही छोडकर अकेले चले जाते हैं। फिर उनका पुत्र स्वामी बन जाता है, पर वह भी वैसा ही सब धनको छोडकर मर जाता है। ऐसा होते होते जिस समय उसके वंशमें कोई संतान नहीं रहती, कोई वारसदार नहीं होता, उस समय वह सब धन सरकार अपने धनकोशमें जमा करती है। यहां वेद कहता है कि ' कस्य (प्रजापतेः) स्वित् धनं ' प्रजापालक राजाका यह सब धन है। जिसका धन था उसके पास चला गया।

प्रश्न— कस्य स्वित् धनं ?- किसका भला धन है ?

उत्तर— कस्य (प्रजापतेः) स्वित् धनं- प्रजाका पालन करनेवालेका निःसंदेह धन है।

एक ही मन्त्र भागमें प्रश्न भी है और उस प्रश्नका उत्तर भी है। वहां ' कः ' का ' कौन ' ऐसा एक अर्थ है और ' प्रजाको सुख देनेवाला पालक, सुख देनेवाला ' ऐसा

उसीका दूसरा अर्थ है। 'क' का ही अर्थ सुख तथा सुख-दायी' ऐसा है। जो पालक जनताका सुख बढाता है और जनताको सुखी करनेके लिये ही प्रजापालन करता है उसका नाम 'क' है और उसका सब धन है। अर्थात् यह धन प्रजाके पालनके लिये है, न कि उस पालक व्यक्तिके उपभोगके लिये। प्रजाके सुखकी वृद्धि होनी चाहिये। 'विष्णु' प्रजाका पालन करता है इसलिये उसके पास 'महालक्ष्मी' (बडी संपत्ति) रहती है। यह धन इस तरह प्रजापालकके कोशमें जाना चाहिये और प्रजाका सुख बढानेके लिये उसका व्यय होना चाहिये यह यहां स्पष्ट हुआ।

प्रजाका हित मुख्य है

आज भी 'व्यक्तिका हित और प्रजाका हित' इसका विरोध होता है, उस समय प्रजाका हित मुख्य और व्यक्तिका हित गौण माना जाता है। मान लीजिये कि किसी नगरमें सार्वजनिक हितके लिये बडा मार्ग करनेकी आवश्यकता हुई, तो बीचके वैयक्तिक स्वामित्वके मकान तोडे जाते हैं और सार्वजनिक हितका मार्ग तैयार किया जाता है, क्योंकि स्थान रूपी धन सार्वजनिक है, वैयक्तिक नहीं है। जबतक सार्वजनिक हितका विरोध नहीं होता, तबतक भले ही व्यक्तिके पास वह धन रहे। पर जिस समय सार्वजनिक हित उसको चाहेगा, उस समय वह सार्वजनिक हितके लिये लिया ही जायगा और उस समय वैयक्तिक स्वामित्व गौण होगा।

सरकारी कर

दूसरा उदाहरण आजके राज्यशासनमें क्या हो रहा है यह देखिये, सरकार 'कर' प्रजासे लेती है। करोंमें 'साधारण कर, विशेषकर, अत्यंत विशेष कर' ऐसे अनेक प्रकारके कर होते हैं। साधारण कर षष्ठांश माना जाता है, प्रतिशतक १५ या १६ समझ लीजिये। 'विशेष कर' प्रतिशतक ५० तक लेते हैं और अत्यंत विशेष कर प्रतिशतक ९० या ९५ तक भी सरकार ले सकती है। साधारण कर सर्वसाधारण मानवोंसे षष्ठांश रूपमें लेते हैं, विशेष धनिकोंसे लाभका आधा तथा अत्यंत धनिकोंसे प्रतिशतक ९० या उससे भी अधिक सरकार लेती है। प्रत्येक सरकारको यह अधिकार है ऐसा सब विचारवान् लोग मानते हैं और यूरोप, अमेरिका तथा भारतवर्षमें ये कर हैं इसलिये प्रजाका पालन करनेवाला शासक अपना धन वसूल करता है। 'प्रजापतेः स्वित् धनं' प्रजा पालकका धन है वह प्रजा पालकने वसूल किया। इतनाही इसका अर्थ है।

युद्धादि विशेष प्रसंगोंमें इससे भी अधिक धन सरकार लेती है और वह योग्य है ऐसा सब विद्वान मानते हैं। इसका कारण यही है, कि प्रजाके हित करनेके लिये ही वह धन था, वह प्रजापालकने प्रजाका पालन और हित करनेके लिये ले लिया। अस्तु इस तरह आज भी 'प्रजापतिका धन है' ऐसा ही माना जाता है। वेदका वचन इस तरह अच्छे राज्य शासनोंमें स्वीकृत किया गया है। यहां तर्कके मननसे यह सिद्ध हुआ कि—

१ धन व्यक्तिका नहीं है,
२ धन प्रजापालकका है,
३ इस धनका उपयोग प्रजाके सुखका संवर्धन करनेके कार्योंमें ही प्रजापालकको करना चाहिये,
४ इस धनका उपयोग अपने निज भोग बढानेके लिये करनेका अधिकार प्रजापतिको नहीं है।

यह सब भाव ध्यानमें धारण करके ही वेदमें 'कस्य स्वित् धनं' के पूर्व 'मा गृधः' (मत ललचाओ) ऐसी आज्ञा की है।

लालच न कर

मनुष्य धनकी लालच करता है और इस धनका उपयोग अपने भोग बढानेमें करता ही रहता है। जिस समय एक व्यक्ति अत्यधिक धनका उपयोग अपने भोगोंके लिये करने लगता है, उस समय कई दूसरे लोग उतने भोगोंसे वंचित रहते हैं और उनको दुःख होने लगता है। ये दुःखी जीव उस स्वार्थी धनिकका द्वेष करने लगते हैं और इस तरह स्पर्धा बढती है और कलह, युद्ध और विनाशमें इसका पर्यवसान हो जाता है। इसलिये वेदने कहा कि 'धन प्रजापति का है, अतः कोई व्यक्ति लालच न करे।' कितनी सावधानताकी यह आज्ञा है देखिये।

मनुष्यके लिये भोग अवश्य है

मनुष्यको जीवित रहना ही है, शीघ्र मरना नहीं है। इसलिये दीर्घजीवन प्राप्त करनेके लिये, सुखसे रहनेके

लिये जितना अन्न वस्त्रका भोग चाहिये उतना तो उसको अवश्य ही मिलना चाहिये। इतना लेनेमें दोष भी नहीं है। इससे अधिक अथवा अत्यधिक लेना दोष है। परिग्रहवृत्ति' अर्थात् अपने पास अत्यधिक भोगोंको संग्रहित करके रखनेकी इच्छासे दोष होते हैं और दुःख बढ जाते हैं। इसलिये 'अ-परिग्रह-वृत्ति' धारण करनी चाहिये। जीवन निर्वाहके लिये आवश्यक उपभोग प्रत्येक व्यक्ति ले सकती है, उससे अधिक नहीं। इसी उद्देश्यसे कहा है कि 'मा गृधः' (मत ललचाओ), आत्यावश्यक जीवन निर्वाहकी वस्तु लेना दोष नहीं, वह लालच भी नहीं। अनावश्यक भोग संग्रह करना दोष है। यही दोष समाजमें उपद्रव मचाता है।

उदाहरण देखिये कि एक मनुष्यके लिये दो चार कुडते चाहिये। उतने मनुष्य रखे और पहने। पर चार दर्जन कुडते करना और रखना यह व्यवहार दोष उत्पन्न करनेवाला है। इससे कपडे अन्य लोगोंको जीवन निर्वाहके लिये भी नहीं मिलते और वर्गकलह खडे हो जाते हैं इसी तरह अन्यान्य उपभोगोंके विषयमें समझना चाहिये। इसीलिये वेदने कहा है कि 'मा गृधः। कस्य स्वित् धनं।' लालच न धर। धन किसका है अर्थात् धन प्रजापालकका है यह ध्यानमें धारण कर।

धनका अर्थ सब उपभोगके पदार्थ, ये सब धन प्रजापतिके हैं। प्रजापतिका अधिकार सब धनपर है। प्रजापालनके लिये उसके पास सब धन रहेगा और उसका उपयोग वह प्रजापालनके कार्य निभानेके लिये करेगा। 'प्रजापतिका धन है' इतना कहनेसे जो प्रजाका अच्छी तरह पालन नहीं करता, उसका धनपर अधिकार नहीं है, यह आप ही आप सिद्ध हो चुका है।

(१) मा गृधः, (२) कस्य स्वित् धनं' ये दो मंत्र भाग हैं और इनका अर्थ ऊपर दिया है। कई विद्वान इनको दो वचन न मानकर, अर्थात् इसका एक ही वचन मानकर अर्थ करते हैं। 'मा गृधः कस्य स्विद् धनं' किसीके धनकी लालच न कर ऐसा इसका अर्थ ये समझते हैं। पर यह अर्थ अशुद्ध है। 'स्वित्' का अर्थ 'प्रश्न और वितर्क' है। ये भाव लेकर अर्थ करनेमें उनका भाव प्रकट नहीं हो सकता। इस तरहके अर्थपर दूसरी आपत्ति यह है कि किसी दूसरेके धनकी लालच न कर' ऐसा इसका अर्थ माननेसे अपने पासके धनकी लालच करनेमें तो कोई प्रतिबंध नहीं है। एक लखपति और करोडपति अपने धनका उपयोग जैसा चाहिये वैसा करे, यह अर्थ समाजमें धनी और निर्धनमें विग्रह करनेवाला है। सचमुच समाजके सामने धनी अपने धनका उपयोग कैसा करे यही एक समस्या है। निर्धन बिचारा अपनी निर्धनतामें सडता ही रहता है, वह लालच तो क्या करेगा और वह परिग्रह भी कितना करेगा। धनी दूसरेके धनका लोभ न करे इतना ही कहनेसे सामाजिक अर्थकी समस्या दूर नहीं होगी। धनीके पास जो धनका संग्रह है, वह किसका है, उसपर स्वामित्व किसका है यह महत्त्वका प्रश्न है।

यज्ञके लिये धन है

सब धन यज्ञके लिये हैं यह वैदिक विचारधारा है। सब धन प्रजापालक प्रजापतिका है, यह ऊपर दिये मन्त्रका कथन है। यज्ञके लिये सब धन है ऐसा कहनेसे भी वह धन सब प्रजाके पालनके लिये लगना चाहिये, यही तात्पर्य उससे निकलता है। क्योंकि 'यज्ञ' का अर्थ ही "(१) जिस कर्मसे श्रेष्ठोंका सत्कार होता है, (२) संगतिकरण अर्थात् प्रजाका संगठन होता है और (३) असहायकोंको आवश्यक सहायता मिलती है" यह है। 'सत्कार-संगति-दानात्मक कर्म' यज्ञ कहलाता है। इससे प्रजाजनोंका कल्याण होगा ही। सब धन यज्ञके लिये है ऐसा कहनेसे सब धन प्रजाके हितके लिये है ऐसा ही सिद्ध होता है। यज्ञमें जो धन लगता है वह सब यज्ञकर्ताके उपभोगके लिये नहीं रहता, परन्तु सब जनोंके हितके लिये है। इसलिये यज्ञार्थ धन हुआ अथवा प्रजाहितके लिये लगा, तो भी किसी व्यक्तिके उपभोगके लिये वह नहीं आसकता। इसलिये "किसी दूसरेके धनकी अभिलाषा न कर" यह अर्थ अशुद्ध है और हमने जो अर्थ किया है वही सत्य है। किसी दूसरेके धनकी अभिलाषा तो कोई कभी न करे, पर अपना धन भी अपना नहीं, वह यज्ञके लिये अथवा प्रजापालनके लिये है ऐसा मानना ही वैदिक धर्मकी विचार धाराके अनुसार योग्य है।

त्यागसे भोग

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि मनुष्य अपने धनका उप-

भोग कैसा करे? इसका उत्तर वेदमंत्रने ऐसा दिया है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' उसका त्यागसे भोग कर। यहां 'त्याग' का अर्थ 'दान' है। दानसे अपने धनका उपभोग करना चाहिये। यह एक अपूर्व उपदेश है।

(१) धन प्रजापालन करनेवाले प्रजाशासकका है।

(२) इसलिये धनकी लालच न कर।

(३) धनका उपभोग त्यागसे कर।

(१) कस्य (प्रजापतेः) स्वित् धनं, (२) मा गृधः, (३) तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। ये तीन मन्त्र भाग क्रमपूर्वक देखनेसे इनका सच्चा आशय स्पष्टरूपसे अपने मनमें आ जाता है। वस्तुतः यह मन्त्र ऐसा है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः, कस्य स्विद्धनम्। (यजु. ४०।१) हमने इसके तीन विभाग, उलटे क्रमसे विचारके लिये लिये हैं।

'धनका दानसे भोग कर, धनकी लालच न धर, धन निःसन्देह प्रजापालकका है।' यहां धनका दानसे भोग करनेकी आज्ञा है।

दान और भोग

धनका भोगसे भोग हो सकता है और धनका दानसे भी भोग हो सकता है। इसका मनन अधिक करना चाहिये। दानसे भोग होता है और भोगसे भी भोग होता है। इसमें श्रेष्ठ भोग कौनसा है और कनिष्ठ भोग कौनसा है इसका मनन करना चाहिये। देखिये, इसका विचार ऐसा है...

भोगसे भोग

भोगसे भोग वह है कि जो प्रत्येक मनुष्य अपने इंद्रियोंसे स्वयं करता है। इस भोगकी मर्यादा होती है। यह भोगसे भोग अमर्याद नहीं किया जा सकता। देखिये अपने घरमें लड्डू जिलेबियां बनी हैं और इनका भोगसे भोग करना है, तो उनका सेवन हम उतना ही कर सकते हैं कि जितना हम पचन कर सकते हैं। अधिक नहीं कर सकते। यदि अधिक खाया जाय, तो वह पचन नहीं होगा और अपचनसे अनेक कष्ट उत्पन्न होंगे। इस तरह मुखसे अन्न भोग करनेमें ईश्वरकी मर्यादा लगी है। उस मर्यादाका उलंघन कोई नहीं कर सकता। कोई मनुष्य १० जिलेबियां खायेगा, कोई बीस खायेगा। अधिक खायेगा तो वे जिलेबियां इसका भोग करने लगेगी और उस समय खानेवालेको बडा कष्ट होगा।

इसी तरह आपके दस घर हैं, पर आप किसी एक समय एक ही घरमें रह सकते हैं और एक ही कमरेमें रह सकते हैं। यहां ईश्वरकी मर्यादा लगी है, उसका उलंघन करके अनेक मकानोंमें एक ही समय रहना असंभव है। आपके घरमें अनेक गाडियां हैं, पर आप एक समय एक ही गाडीमें बैठ सकते हैं। एक समय दोचार गाडियोंमें बैठना किसी मनुष्यके लिये असंभव है। यह ईश्वरने मर्यादा नियत की है। आपके घरमें सैकडों कपडे हैं, पर एक समय आप दोचार ही कपडे पहन सकते हैं। एक ही समय सैकडों कपड पहनना मनुष्यके लिये अशक्य है।

मनुष्य अनेक विवाह कर सकता है, सैकडों स्त्रियां जनानखानेमें रखनेवाले नवाब अनेक हो चुके हैं। पर एक समयमें किंवा एक दिनमें अधिकाधिक स्त्रियोंका समागम होना अशक्य है। यहां मर्यादा लगी हुई है, उसका उलंघन मनुष्य नहीं कर सकता।

इतने उदाहरणोंसे स्पष्ट हुआ कि भोगसे भोग अल्प मर्यादातक ही संभव है। मनुष्यकी भोग भोगनेवाली इंद्रियां थक जाती हैं और मर्यादा उलंघन करके अधिक भोग कर नहीं सकती। इसका अनुभव प्रत्येक मनुष्य चाहे जिस किसी इंद्रियसे कर सकता है। इसलिये इसके अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है।

दानसे भोग

अब दानसे भोग कैसा अमर्याद है देखिये। आप मिष्टान्न घरमें जितना चाहिये उतना कीजिये और लोगोंको खिलाइये। आप जितना अन्न तैयार कर सकते हैं और जितनेको खिला सकते हैं, उतना आप दान कीजिये। इनके तृप्त हुए मुखोंको देखकर जो आनंद आपको होगा वह अमर्याद आनंद है। आप अन्नदान, विद्यादान, धन दान जितना चाहे उतना कीजिये, दवाखाने खोलिये, अनेक प्रकारके दानोंसे जो जनताका उपकार हो सकता है करते रहिये। उन लोगोंके आनन्दित मुख देखकर जो दाताको आनन्द प्राप्त हो सकता है वह आनन्द अमर्याद

है। हजारों विद्यार्थी आपके विश्वविद्यालयसे विद्वान होकर बाहर आजायँगे, आपके दवाखानेसे प्रतिदिन हजारों रोगी रोगमुक्त होंगे, उनका अमर्याद आनन्द देखनेसे जो आनन्द आपको प्राप्त होगा, वह आनन्द दिव्य आनंद होगा और वह अमर्याद आनन्द होगा। अर्थात् दानसे जो भोग होता है वह यह है। इसका विस्तार अमर्याद, आनन्द भी अभौतिक और इसका क्षेत्र भी व्यापक तथा अत्यंत विस्तृत है। इसलिये वेद कहता है कि 'लालच न कर और 'दानसे भोग कर।' दान करते हुए तुम भी थोडासा भोग अपने लिये करो, वह तुम्हारा आनन्द बढायेगा। व्यवहारमें भी जनसंघपर उपकार करनेसे जो आनन्द होता है वह आनन्द किसी पदार्थके भोग करनेसे प्राप्त होनेवाले आनन्दसे सहस्रगुणा अधिक होता है। इसलिये 'दानसे भोगकर' (तेन त्यक्तेन भुंजीथाः) यह वेदकी आज्ञा आप सबका सुख बढानेवाली है, प्रेम बढानेवाली है, अमर्याद आनन्द देनेवाली है।

यहांतक हमने वेदके तीन उपदेश देखे। उनका परस्पर संबंध भी है। वे उपदेश ये हैं—

(१) कस्य (प्रजापतेः) स्वित् धनं— सब धन निःसंदेह प्रजापतिका है, किसी व्यक्तिका नहीं इसलिये—

(२) मा गृधः— कोई व्यक्ति लालच न करे और—

(३) तेन त्यक्तेन भुंजीथाः— उस (धनका) दानसे भोग करे। भोगसे भोग नहीं।

ये तीन उपदेश वैदिक अर्थ व्यवस्थाका स्वरूप बता रहे हैं। (१) धन किसी व्यक्तिका नहीं, व्यक्ति मरनेवाली है, धन छोडकर व्यक्ति मरकर चली जाती है। समाज स्थायी रहता है इसलिये जो स्थायी रहता है उसका धन है। उस समाजकी पालना प्रजापति संस्थासे होती है, इसलिये सब धन प्रजापति संस्थाका है। (२) यदि यह मान लिया गया तो व्यक्तिको किसी धनकी लालचमें फंसना योग्य नहीं, यह स्वयं ही सिद्ध हो चुका है। यदि धन प्रजापालक संस्थाका है तो वह व्यक्तिका नहीं। भले ही धन व्यक्तिके पास रहे। पर वह व्यक्ति उसका विश्वस्त होकर रहे, उपभोग करनेवाला स्वामी नहीं। इस तरह धनपर आसक्ति छोडना मनुष्यका कर्तव्य हो जाता है। इतना होनेपर भी मनुष्य भोग करनेके विना जीवित रह नहीं सकता, इसलिये वह कैसा भोग करे ? तो इस प्रश्नके उत्तरमें वेद कहता है कि (३) 'त्यागसे-दान देकर-जो बचता है, यज्ञ करके जो यज्ञशेष रहता है उस अमृतका भोग करे। ये तीनों उपदेश वैदिक अर्थ व्यवस्थाका स्वरूप दर्शा रहे हैं। सब धन यज्ञके लिये उत्पन्न हुआ है, इसका अर्थ यह है।

समाजके आधारसे व्यक्ति रहती है।

यज्ञकी कल्पना मूलतः कहांसे, किस सिद्धान्तसे उत्पन्न हुई यह भी यहां देखना चाहिये। इसलिये वेदने मानव समाजकी व्यवस्था दो शब्दोंसे कही है, वह सब देखिये-

जगत्यां जगत् (यजु० ४०।१)

'जगतीके आधारसे जगत् रहता है।' यह इस वचनका पदशः अर्थ है। पर इसका आशय क्या है ? जगती किसका नाम है और जगत् किसको कहते हैं, यह विचारणीय विषय है। 'जगत्' का अर्थ (गच्छति इति जगत्) जो गतिमान है, जिसमें चलनवलनकी शक्ति है, जो अपनी प्रगति करता है वह जगत् है। पृथिवी स्वयं अपनी इर्द गिर्द तथा सूर्यके चारों ओर घूमती है, इसलिये पृथिवी और पृथिवीपरके सब पदार्थ गतिमान हैं। सूर्य अपनी ग्रहमालाके साथ बृहत्सूर्यके चारों ओर घूम रहा है। इसलिये संपूर्ण सूर्यमाला घूम रही है अतः गतिमान है। सब विश्व गतिमान है। इस विश्वमें कोई वस्तु गति रहित नहीं है। इसलिये प्रत्येक वस्तुको, वह गतिमान होनेसे, जगत् कह सकते हैं।

पर यदि गतिका अर्थ प्रगति माना जाय, तो केवल मनुष्य ही ऐसा है, कि जो प्रगति कर सकता है। मनुष्यमें स्वतंत्र बुद्धि है, इसलिये वह अपनी उच्च गति-प्रगति-भी कर सकता है और नीचगति-अधोगति-भी कर सकता है। मनुष्यको छोडकर अन्य प्राणी गतिमान तो हैं, पर उनमें स्वतंत्र प्रतिभा नहीं है, अपनी स्थिर बुद्धिसे-जन्म जात मतिसे-वे जैसे हैं वैसे ही रहते हैं। चिडियां देखिये, जिस तरह वे १०००० वर्ष पूर्व थीं वैसी ही आज हैं और वैसी ही १०००० वर्षोंके बाद भी रहेंगी। पर मनुष्यका वैसा नहीं, वह प्रगति करता है और अपनी अधोगति भी करता है। इसलिये सामान्यतः सब विश्वान्तर्गत पदार्थ 'जगत' कहलाते हैं परंतु पूर्ण रीतिसे मनुष्य ही 'जगत्' है, क्योंकि

मनुष्य सच्चा गतिमान है। जिस तरह प्रभावी पुत्र जिस माताका होता है, उस माताको 'पुत्रवती' कहते हैं, नहीं तो बहुत स्त्रियां पुत्र उत्पन्न करती हैं और सूवरीको तो दस दस संतान होते हैं, पर उनको कोई नहीं पूछता। इसी तरह सब ही गतिमान् होनेसे 'जगत्' कहलाये जायगे, परंतु अपनी गतिकी मनुष्य प्रगति करके अन्तमें वह परमपद प्राप्त कर सकता है, इसलिये मनुष्य ही अपनी गति संपन्नताका उत्तमोत्तम उपयोग करता है, अतः मनुष्य ही सच्चा गतिमान् है, अतएव सत्य अर्थसे 'जगत्' है।

एक व्यक्तिको 'जगत्' कहा जाता है और उन अनेक जगतोंकी समष्टिको 'जगती' कहते हैं। इसकी तालिका ऐसी होती है...

जगत्	...	जगती
एक	...	बहुत
व्यष्टि	...	समष्टी
व्यक्ति	...	समाज
असंभूति	...	संभूति
असंभव	...	संभव
विनाश	...	अविनाश

यहां प्रश्न होता है कि क्या व्यक्ति स्थायी है अथवा समाज स्थायी है। व्यक्ति मरती है और समाज स्थायी रहता है यह अनुभव हर कोई जानता है। हिंदु व्यक्ति मरती है, परंतु हिंदुसमाज अजरामर है, स्थायी है। इसी तरह अन्य समाजोंके विषयमें जान सकते हैं। व्यक्ति मरती है, प्रत्येक व्यक्ति मरनेवाली है, और उन व्यक्तियोंका बना समाज स्थायी और अमर है, यह हम सर्वत्र देखते हैं। हिंदु व्यक्तियां मर रहीं हैं, पर हिंदु समाज दस सहस्र वर्षोंसे है और भविष्यमें भी रहेगा। तो धन मरनेवाले, नाश होनेवालेका नहीं हो सकता, धन तो स्थायी रहनेवाले समाजका ही हो सकता है, यह बात तो स्पष्ट ही है।

यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि 'कस्य (प्रजापतेः) धनं' इस मन्त्र भागका अर्थ ब्राह्मण वचनानुसार 'प्रजापतिका धन है' ऐसा है। यहां कोई पूछ सकते हैं कि धन प्रजाका है वा प्रजापतिका है? अर्थात् यहां धन जनताका है वा शासकका है। प्रजा और प्रजापतिमें स्थायी भाव किसका है? उत्तरमें हम कह सकते हैं कि 'प्रजा' स्थायी है और 'प्रजापति' बदलनेवाला है। 'प्रजा' स्थायी रहती है 'राजा' बदलता रहता है। प्रजाका अर्थ 'लोक समूह, जनता, मानव समाज' स्थायी है, 'राजा' रहे या न रहे, 'पालन करनेवाला' हो या न हो, प्रजा रहती है और रहेगी। इसलिये 'प्रजा' मुख्य है और 'प्रजापति' गौण है। प्रजाके रहनेपर प्रजापति रहेगा, परंतु प्रजापतिके कारण प्रजा रहती है ऐसा नहीं कह सकते।

राजा, पालक, शासककी कल्पना पीछेसे उत्पन्न हुई है। पहिले जनसमाज था। जनसमाज बहुत वर्षोंसे था, पश्चात् राजा होनेसे कुछ लाभ होते हैं, इसलिये राजा निर्माण किया गया। और कहा कि 'राजा रञ्जयते प्रजाः' राजा वह है कि जो प्रजाका रञ्जन करता है। अर्थात् प्रजा निरपेक्ष है, राजा-शासक-पालक रहे या न रहे 'प्रजाजन' तो रहेंगे। वेदमें कहा है—

'विराड् वा इदमग्र आसीत्

अथर्व० १५

'वि-राज्' अर्थात् राजविहीन प्रजाजन ही पहिले थे। 'इस समय राजाकी कल्पना भी निर्माण नहीं हुई थी। पर उस समय प्रजाजन थे। लोक थे, जनता थी। पश्चात् शासककी कल्पना हुई है। अर्थात् जनसमाज शाश्वत अथवा मुख्य और शासक, प्रजापति गौण है। रञ्जन करनेवाला गौण होता है और जिसका वह रञ्जन करता है वह मुख्य होता है। प्रजाजन न रहे तो राजा रह ही नहीं सकता, परंतु राजा रहे या न रहे प्रजाजन तो रह सकते हैं।

'कस्य (प्रजापतेः) धनं' इस मंत्रभागमें जो कहा है कि धन प्रजापतिका है, प्रजापालकका है, उसमें यह भाव है कि प्रजाकी पालनाके लिये ही धन है, क्योंकि प्रजा ही मुख्य है, पालक उस प्रजाका आद्य सेवक, पालन कर्म करनेके लिये नियुक्त किया कार्यवाहक है। प्रजा पालन अच्छीतरहसे करेगा तो वह कार्यालयमें रहेगा, प्रजाका पालन अच्छी तरहसे उससे न होने लगा, तो वह अपने स्थानसे हटाया भी जायगा। वेदमें एक प्रजापतिको हटाकर दूसरे प्रजापतिको उसके स्थानपर रखनेका वर्णन है।

वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन् । ऋ० १०।६१।७

' नियमोंका पालन करनेवाले दूसरे प्रजापतिको पहिले प्रजापतिके स्थानपर नियत किया । ' पहिला प्रजापति नियम विरुद्ध कार्य कर रहा था, अतः उसको शासकके स्थानसे हटाया गया और नया दूसरा प्रजापति वहां नियुक्त किया गया ।

' राजसूय ' यज्ञ इसीलिये है । राजाका, शासकका चुनाव इस यज्ञमें होता है । प्रजा संमति देती है और वह राज्यका शासक होता है । अस्तु इसका तात्पर्य यह है कि प्रजा मुख्य है और सेवक गौण है । शासकके पास जो धन आता है वह जिसका शासन करना है उसके हित साधनके कार्यक्रम करनेके लिये है । अतः धन प्रजाका है और शासक उस धनका विश्वस्त है । शासक विश्वस्त करके रहे, उपभोक्ता न बने, यह भाव इस विवरणका है ।

राजा और प्रजाकी तुलना करके यहां बताया कि प्रजा मुख्य और राजा गौण है । परंतु राजगद्दीपर नियुक्त होनेपर वही सब प्रजाजनोंसे अधिक आदरणीय समझा जाता है । वह परम आद्य सेवक है तथापि प्रजाद्वारा वंदनीय है, अधिक सन्मानके योग्य है । उसके शासनसे राज्य बलशाली विजयी और प्रभावी हो जाता है । शासनके सब कार्योंमें राजा ही अधिक वन्दनीय है । जिस समय वह राजा प्रजाघातके कार्य करने लगेगा, उस समय प्रजाके प्रतिनिधि उसको स्थानभ्रष्ट कर देंगे, परंतु तबतक वही सर्वोपरि रहेगा ।

प्रजा और राजाका गौणत्व और मुख्यत्व इस तरह देखने योग्य है । विशिष्ट प्रसंगके अनुसार एकका और दूसरेका मुख्यत्व हो जाता है । मुख्य बात धन व्यक्तिका नहीं, समष्टीका धन है । यह सिद्धान्त सार्वभौमिक है । अतः इसका विस्मरण नहीं होना चाहिये ।

भूमि रूपी धन ग्रामकी जनताके हितके लिये है । किसी व्यक्तिका वह धन नहीं है । राष्ट्रकी भूमि राष्ट्रकी जनताके हितके लिये है । इसी तरह सब पृथिवी सब मानवोंके हितके लिये ही है । किसी व्यक्तिको यह अधिकार नहीं कि वह व्यक्ति अपने आधीन अत्यधिक भूमिभाग करे और दूसरोंको भूखसे मरनेकी आपत्तिमें डाले । भूमिके समान ही अन्य धन धान्यके विषयमें समझना चाहिये ।

मुख्य समष्टी है और व्यक्ति गौण है । समष्टी स्थायी और अमर है तथा व्यक्ति नष्ट होनेवाली है, इसीलिये कहा है कि धन समष्टिका है, प्रजाका है, किसी व्यक्ति विशेषका नहीं । ' कस्य (प्रजापतेः) धनं ' इस वेद वचनमें जो कहा है ' कि ' धन प्रजापतिका है ' उसमें भी यही भाव है कि ' धन प्रजाका है, प्रजापति उसकी व्यवस्था करनेवाला सेवक है ।

जब सब धन सब जनताका है । तब एक व्यक्ति (मा गृधः) उस धनकी लालच न करे, यह वेदकी आज्ञा युक्तियुक्त ही है । सब जनताके लिये जो वस्तु है, उसपर एक व्यक्तिका अधिकार हो ही कैसा सकता है और उस सार्वजनिक वस्तुकी लालच यदि एक व्यक्ति करेगी, तो वह उस व्यक्तिका अपराध समझा जायगा । इसलिये ' मत ललचाओ ' (मा गृधः) वेदने आज्ञा दी है । और (त्यक्तेन भुञ्जीथाः) त्यागसे भोग करो, दानद्वारा भोग करो, भोगसे भोग न करो यह वेदकी आज्ञा भी योग्य ही है ।

व्यक्तिको समाजका आश्रय

अब (जगत्यां जगत्) जगतीके आधारसे जगत् है, समष्टीके आधारसे व्यष्टि है, समाजके आधारसे एक व्यक्ति है । इसका प्रथम अनुभव लीजिये । कोई लडका जिस समय उत्पन्न होता है, उस समय वह सर्वथा पराधीन रहता है । मनुष्यका लडका तो सर्वथा पराधीन रहता है । कई पशु पक्षियोंके संतान भी पराधीन होते हैं, एक दो वर्ष माताका दूध पीकर वे रहते हैं । पश्चात् माता, पिता, कुटुंबकी सहायतासे वह बढता है, नंतर गुरुसे ज्ञान प्राप्त करके विद्वान बनकर स्वयंप्रज्ञ कहलाता है । तबतक उसकी पालना समष्टिसे होती रहती है । इसलिये कहा है कि समष्टिके आधारसे व्यष्टि रहती है । ' जगत्यां ' सप्तमी विभक्ति है । सप्तमीका अर्थ ' आधार, आश्रय, निवास ' है । जगत्का आधार, जगत्का आश्रय, जगत्को निवास स्थान देनेवाली जगती है । इसलिये जगत्के मनमें जगतीके विषयमें बडा आदर रखना चाहिये । व्यक्ति सर्वथा समष्टिके आधारसे रहती है, इसलिये व्यक्तिको उचित है कि, वह समष्टिके लिये अपने भोगका त्याग करे । यहां देखिये इसकी यह तालिका ऐसी बनती है—

१ व्यक्ति कुटुंबमें रहती है,
२ ,, ग्राममें ,, ,,
३ ,, जातीमें ,, ,,
४ ,, राष्ट्रमें ,, ,,
५ जगत् जगतीमें रहता है
" जगत् जगत्यां "

इसीलिये व्यक्ति कुटुंब, ग्राम, राष्ट्रके लिये दान करे। जो व्यक्तिके पास धन होगा वह राष्ट्र या नगरके लिये है ऐसा उस व्यक्तिको मानना चाहिये। और त्यागपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिये। व्यक्ति जीवित है इसके जीवनके लिये उसकी जातीने, उसके राष्ट्रने, उसके ग्रामने और कुटुंबने बहुत कुछ साक्षात् अथवा परंपरया दान किया है। यह कर्जा व्यक्तिपर है, इसको उत्तम रीतिसे उतारना चाहिये। यदि व्यक्तिने जाती और राष्ट्रके लिये कुछ भी नहीं किया, तो वह व्यक्ति जाती और राष्ट्रके कर्जमें रही। कर्जामें रहना बुरा है। यहां यह भी ध्यानमें धारण करना चाहिये कि, व्यक्ति जिस कुटुंबमें रहती है, उस कुटुंबका धारण राष्ट्रने किया होता है। परंपरया यह ऋण कुटुंबपर रहता है। इस सब व्यवहारका विचार करके वेदने संक्षेपमें कहा है कि (जगत्यां जगत्) समष्टीके आधारसे व्यक्ति है। व्यक्तिका जीवन समाजके आश्रयसे है। इसलिये व्यक्तिके पासका धन समाजका धन है। (कस्य प्रजापतेः धनं) प्रजाका पालन करनेवालेका धन है। इसका यह भाव है। प्रजापतिका धन इसका अर्थ ही प्रजाका धन है, समष्टिका धन है, जगतीका धन है। संभूतिका धन है।

व्यक्ति समाज सेवा करे

शिष्य गुरुके आश्रममें रहता है, बालक माता पिताके आश्रयसे रहता है। इसलिये शिष्यके लिये गुरु और बालकके लिये मातापिता संसेव्य हैं। इसी तरह व्यक्ति समाज और राष्ट्रके आश्रयमें रहती है, इसलिये व्यक्तिके लिये समाज और राष्ट्र संसेव्य है, पूज्य है। इस कारणसे ही कहा है कि धन प्रजापतिका है, किसी एक व्यक्तिका नहीं। धन प्रजाके हितके कार्योंमें खर्च होना चाहिये, किसी व्यक्तिके उपभोगके लिये नहीं। ' जगतीके आश्रयमें जगत् रहता है ' ऐसा कहनेसे व्यक्तिका गौणत्व और समष्टिका मुख्यत्व सिद्ध होता है, जिससे यह सब आशय स्वयं प्रकट होता है।

पाठक यहां देखें कि वेदके एक वचनका आशय दूसरे वचनके साथ किस तरह मिलता है और किस तरह बाधक न होते हुए परिपोषकही होता है। पाठक यहां देखें कि वेद व्यक्तिकी स्वतंत्रताको समाजके हितार्थ अर्पण कर रहा है।

आज प्रत्येक समाजमें व्यक्तिका धन व्यक्तिके पास ही बंद रहता है। यद्यपि सरकार अनेक करोंके रूपसे उस धनका बहुतसा भाग ले लेती है, तथापि व्यक्तिके पास धन संग्रह बढता जाय और उस कारण दूसरी व्यक्तियां तदपेक्षया निर्धन रहें, ऐसी ही अर्थ व्यवस्था आज है। इस कारण समाजमें जो अस्वस्थता बढ रही है, वह नाना प्रकारके विप्लवोंको निर्माण करती है और इस हेतुसे सर्वत्र अशांति फैल रही है। यदि यह अर्थव्यवस्था इस वैदिक सिद्धान्तके अनुसार बन जाय, तो सब लोग यहीं अपूर्व सुखका लाभ प्राप्त कर सकेंगे।

सर्वमेधमें सर्वस्वका अर्पण

प्राचीन समयमें अनेक प्रकारके यज्ञ किये जाते थे, उनमें एक 'सर्वमेध' यज्ञ होता था। उसमें अपना सब धन जनताके हितके लिये दिया जाता था। जो इस यज्ञको करते थे, वे धनहीन जैसे बन जाते थे। सम्राट् भी दूसरे दिनसे मिट्टीके पात्र बर्तने लगते थे। ऐसे यज्ञका उद्देश्य इतना ही था कि किसी एक व्यक्तिके पास धन संग्रह न हो, धन जनताके हित करनेके कार्यमें लगे। ऐसा आज नहीं होता है। भारत, युरोप अमेरिकामें व्यक्तिके पास धनसंग्रह बहुत हो रहा है। यह अयज्ञीय जीवन है। यह पाप हो रहा है। इसीसे दुःख बढ रहे हैं। प्रत्येक मानता है कि 'मेरा धन है' कोई ऐसा नहीं मानता कि 'यह सब धन प्रजाका है, इसलिये वह प्रजा पालकके पास जाना चाहिये।' इस वैदिक सिद्धान्तके न माननेसे बडा पाप हो रहा है और यही दुःख बढा रहा है।

बलवान रहेगा, निर्बल नहीं

यहांतक वैदिक अर्थव्यवस्थाके मुख्य तत्त्वोंका विवेचन किया। अब धनके स्वामित्वके विषयमें वेद क्या कहता है वह देखना है। वेद कहता है कि—

'ईशा वास्यं इदं सर्वं यत् किंच।
(वा० यजु० ४०।१)

'यहां जो भी कुछ है, उस सब पर ईशका स्वामित्व होने योग्य है।' यहां ईशका ही स्वामित्व होगा। अनीशका यहां रहना भी असंभव है। ईश ही यहां रहेगा, अनीश नहीं।

जिसमें ईशन शक्ति रहती है उसको ईश कहते हैं, 'ईश' का अर्थ 'शासन करना, शक्तिमान होना, समर्थ होना, आज्ञा करना है।' जो राज्यशासन कर सकता है, जिसमें शासनशक्ति है, जिसमें सामर्थ्य है, जो दूसरोंको आज्ञा करके उनसे कार्य ले सकता है वह ईश है। जो राज्य शासन कर नहीं सकता, जिसमें शासन करनेकी शक्ति नहीं है, जो निर्बल है, जिसमें सामर्थ्य नहीं है, जो दूसरोंको आज्ञा नहीं कर सकता और उनसे कार्य नहीं करवा सकता, वह ईश नहीं है, वह अनीश है। अनीश ही दास होते हैं। ईश सामर्थ्यवान होते हैं, स्वामी होते हैं वे आर्य कहलाते हैं।

'ईशा वास्यं इदं सर्वं' जिसमें ईशन सामर्थ्य है वही इस सबपर शासन कर सकता है। जो ईशन शक्तिसे युक्त नहीं है वह इस विश्वपर शासन नहीं कर सकता। स्वामित्वका यह सिद्धान्त है। सर्वत्र सब देशोंके इतिहास में यही वैदिक सिद्धान्त दिखाई देता है। इसके विपरीत किसी जगह अनुभव नहीं आता। इतना यह सिद्धान्त सार्वभौमिक है।

'ईशा वास्यं' इस वचनमें 'वास्यं' क्रिया है। ईश क्या करता है वह इस क्रिया द्वारा बताया है। 'वास्यं' में वस् धातु है, इस धातुका अर्थ (वस् निवासे) निवास करना, रहना, (वस् आच्छादने) आच्छादन करना, घेरना, लपेटना, (वस् स्तम्भे) स्थिर करना, सीधा करना, (वस् स्नेह-छेद-अपहरणेषु) प्रेम करना, काटना और अपहरण करना, यह है।

जो शासक शक्तिवान् है वह यहां रहता है, इसको घेरता है, इसको स्तब्ध करता है, अपने विरुद्ध हलचल करने नहीं देता, विरोध करनेपर इसको काटता है और इसके धनका अपहरण करता है और यदि जनता चुप रही, तो उसपर प्रेम भी करता है। ऐसा सामर्थ्यवान पुरुष इस विश्वमें राज्यशासन करता है। ऐसा प्रभावी वीर स्वामी होने योग्य है। जो किसी स्थानके स्वामी बने वे इन गुणोंसे युक्त थे। जो इन गुणोंसे हीन हैं वे स्वामी अथवा शासक होने योग्य नहीं है।

परदेशमें जाकर जिन्होंने वहां राज्यशासन किया उनमें ये सामर्थ्य थे। जिनमें ये शक्तियां नहीं थी उन्होंने अपना राज्य खो दिया है। इन गुणोंसे जो युक्त होगा वही धनका स्वामी हो सकता है। इन गुणोंसे हीन स्वामी होने योग्य नहीं है। परदेशके लोग यहां आकर रहे, यहांके लोगोंको उन्होंने घेर लिया, अपनी शक्तिसे आच्छादित किया, यहांके लोगोंको उन्होंने स्तब्ध किया, हिलने नहीं दिया, विरोध करनेपर यहांके निवासियोंका वध किया, कतल की, धनादिका अपहरण किया और जो उनके वश हुए उनपर उन्होंने प्रेम भी किया, इसलिये उन परदेशियोंका राज्यशासन यहां हुआ और बढा। उनकी अपेक्षा हमारे अन्दर निर्बलता थी, इसलिये न हम बाहर जा सके और न वहां राज्यशासन कर सके। इसका कारण अपनी निर्बलता है। सभी देशोंके इतिहासोंमें यह वेदका सिद्धान्त स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है। इसलिये यह त्रिकालाबाधित सत्य है।

ईश वह होता है कि जिसमें ईशन शक्ति है। राज्यशासनके मुख्य स्थानपर अथवा छोटे छोटे अधिकारियोंके स्थानोंपर ऐसे ईशन शक्तिवाले पुरुषको ही नियुक्त करना चाहिये। जिनमें ईशन शक्ति नहीं है, ऐसे अधिकारी होंगे तो राज्यशासन शिथिल हो जायगा और गुण्डोंकी प्रबलता बढेगी।

'यत् किंच सर्वं ईशा वास्यं' जो भी कुछ यहां है वह सब ईशन शक्ति जिसमें है उसीके अधीन रहने योग्य है। उसीके आधीन रहेगा। उसी सामर्थ्यवान्का प्रभुत्व सर्वत्र होगा। यह प्रभुत्वका नियम है। यह नियम अटल है। किसी समय राजवंशमें निर्बल पुरुष निर्माण होता है, उसके आधीन राज्य आया तो सब शासनव्यवस्था शिथिल हो जाती है। इसलिये समर्थ वीर ही स्वामी होने योग्य है।

इस समयतकके विवेचनसे निम्नलिखित सिद्धान्त प्रस्थापित हुए हैं—

१ ईशा वास्यं इदं सर्वं यत् किंच— यहां जो भी कुछ है उसपर ईशन शक्तिवालेका ही अधिकार रहेगा,

२ जगत्यां जगत्— समष्टिके आधारसे व्यक्ति रहती है, इसलिये व्यक्तिको उचित है कि वह—

३ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः— अपने पासके धनका दान करके भोग करे,

४ मा गृधः— धनका लोभ न करे, लोभ छोड देवे,

५ कस्य स्विद् धनम् ?— धन किसका है इसका विचार करे और जाने कि (कस्य प्रजापतेः धनं) प्रजापालकका धन है। किसी व्यक्तिका धन नहीं है। इसका स्मरण रखे।

यह सब मन्त्र इस तरह है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच, जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृधः, कस्य स्विद्धनम्।

का० यजु० ४०।१; वा० यजु० ४०।१ ईश० १

यह मन्त्र अर्थसिद्धान्त और स्वामित्वके सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। इस मन्त्रके प्रत्येक पदका इतना महत्त्व है कि कोई पद उसके नियत स्थानसे हटाया नहीं जा सकता। प्रत्येक पद अपने स्थानपर विशेष महत्त्व रखता है। अर्थ सिद्धान्तपर इस समय बडे ग्रन्थ लिखे मिलते हैं और स्वामित्वके विषयमें भी बडा वाङ्मय है। पर इतनेसे थोडे शब्दोंमें यहां जो अर्थ रखा है वह वेदकी शैलीमें ही देखा जा सकता है।

शरीरमें राष्ट्र

शरीर भी एक बडा भारी राष्ट्र है। इसमें ३३ करोड अणुजीव रहते हैं, उनमेंसे प्रत्येक स्वतंत्र रीतिसे जन्मता, रहता और मरता है। इनके संघ होते हैं। इस राष्ट्रको 'देवानां देवयजनं कुरुक्षेत्रं' देवोंके देव यज्ञ करनेका यह पवित्र क्षेत्र करके कहा है। यह पवित्र क्षेत्र है। यहां देव आकर रहते और सौ वर्ष यज्ञ करते हैं। यहां इस क्षेत्रका राजा 'आत्मा' है जिसको जीवात्मा बोलते हैं। इसके साथ तैंतीस ओहदेदार आते हैं और एक एक इंद्रिय और अवयवके अधिकारी होकर कार्य करते हैं। इस राष्ट्रके तैंतीस प्रांत हैं और उतने ही यहां प्रांताधिकारी हैं। इस तरह यह विशाल राष्ट्र है। इस राष्ट्रकी राजसभाएँ दो हैं, मनीषा और प्रजा ये उनके नाम हैं। आत्माका अनुशासन यहां चलता है। काम क्रोधादि राक्षस इस राष्ट्रपर हमला करते हैं, इसपर वे कब्जा करना चाहते हैं। आत्माको इसकी सुरक्षा करनी चाहिये और शतसांवत्सरीक यज्ञ निर्विघ्नतया समाप्त करना चाहिये। बाहरके राष्ट्र जैसा ही यह शरीरके अन्दरका राष्ट्र है।

यह मंत्र प्रत्येक मनुष्य अपने अन्दर ढालकर देखनेका यत्न करे। (ईशा वास्यं इदं सर्वं) मैं इस शरीरका ईश हूं, मैं यहां इस शरीरमें रहता हूं, निवास करता हूं, अपनी आत्मशक्तिसे मैं इस शरीरको घेरता हूं, आच्छादित कर रहा हूं। शरीरपर प्रेम करता हूं, फोडे फुनसी होनेपर इसको काटता हूं, उस शरीरपर स्वामित्व करता हूं, इस शरीरको नियममें रखता हूं, जो काम लेना चाहता हूं मैं लेता हूं। मेरी इच्छासे इस शरीरमें सब कार्य होते रहते हैं। न होने लगे तो मैं अपनी इच्छासे शरीरसे इष्ट कार्य करवाता हूँ। मैं इस शरीरका शासक हूं। जो इस शरीरमें इन्द्रिय अवयव अथवा अंग हैं, वे सब मेरी इच्छासे अथवा मेरी शक्तिसे कार्य कर रहे हैं। मैं अपनी शक्तिका प्रभाव प्रत्येक अवयवपर रखता हूं, अपनी इच्छासे वहां कार्य करवाता हूं। मेरी इच्छाके प्रतिकूल यहां कुछ भी नहीं हो सकेगा।

(जगत्यां जगत्) इस शरीररूपी समष्टिके आश्रयसे प्रत्येक इंद्रिय और अवयव रहते हैं। इसलिये प्रत्येक अवयवको उचित है कि वह संपूर्ण शरीरके कल्याणके लिये ही कार्य करता रहे। कोई अवयव कभी ऐसा कार्य न करे कि जिससे शरीरपर आपत्ति आजाय। प्रत्येक अवयव अपनी पराकाष्ठा करे और संपूर्ण शरीरका कल्याण होनेके लिये ही कार्य करे क्योंकि संपूर्ण शरीरकी सुस्थितिमें ही प्रत्येक इन्द्रिय तथा अवयवकी सुस्थिति सुस्थिर रहनेवाली है।

प्रत्येक इंद्रिय तथा अवयव पृथक् स्वतंत्र नहीं है। शरीरका वह अंग है। अंगको उचित है कि वह अंगीकी सुस्थितिके लिये अपनी पराकाष्ठा करे। प्रत्येक इंद्रिय अपने सुखके लिये ही तत्पर रहने लगा और संपूर्ण शरीरके स्वास्थ्यके लिये उसने यत्न नहीं किया, तो शरीरका स्वास्थ्य बिगड जायगा, उससे जैसी शरीरकी हानि है वैसी ही उस स्वार्थी सुखेच्छुक अवयवकी भी हानि है। इसलिये प्रत्येक अवयवको उचित है कि वह सब शरीरके हितके लिये अपने

सुखका त्याग करे। (त्यक्तेन भुञ्जीथाः) अपने सुखका त्याग करके सब शरीरके स्वास्थ्यकी सुरक्षाके लिये जितना योग्य और आवश्यक है उतना ही भोग करे। यह संयम पूर्वक भोग होगा। शरीरकी स्वस्थता रखनेके लिये जो किसी इंद्रियको अप्रिय भी लगता होगा, वह उस इंद्रियको करना ही पडेगा। उदाहरणार्थ व्यायाम प्राणायाम करना। इंद्रियाँ आलस्यमें रहना चाहती हैं, पर शरीरके स्वास्थ्यके लिये अवयवोंको समयपर व्यायाम करना ही चाहिये। यही इंद्रियोंका त्याग है। प्रत्येक इंद्रिय अपने प्रिय विषयके पीछे ही न पडे, उससे शरीरपर आपत्ति आजायगी। यहां इंद्रियका संयम इष्ट है। शरीरके लिये, अंगीके लिये अंगका यह त्याग है। ऐसा त्याग करना अत्यंत आवश्यक है।

(मा गृधः) प्रत्येक इंद्रिय अपने प्रिय विषयमें इतना आसक्त न हो कि जिससे शरीरपर ही आपत्ति आजाय। प्रत्येक इंद्रिय अपने विषयके रसका विशेष भोग करनेमें न फंसे। शरीरकी सुस्थितिके लिये अपने भोगकी लालच कम करे। लालचमें न फंसे। (कस्य स्विद् धनं) धन किसका है, धन्यता किसकी हो ? प्रत्येक इंद्रियकी व्यक्तिशः शोभा बढे अथवा सब शरीरकी संपूर्णतः शोभा बढे इसका विचार हो। यहां जो शरीरमें शोभा और धन्यता है वह सब शरीरकी बढनी चाहिये। एक एक इंद्रिय अपने अपने विषयमें रस लेनेके लिये अपनी शक्ति बढावे तो सब शरीरपर आपत्ति आ जायगी। इसलिये यहांकी सब शोभा तथा धन्यता सबकी मिलकर होनी चाहिये सब शरीरकी होनी चाहिये। मैं आत्मा इस शरीरका प्रजापति हूं, मेरी शक्तिसे तथा मेरी शोभासे यहांकी शोभा बढती है। यह जानकर आत्माका अनुशासन यहां हो और किसी शत्रु रूप काम क्रोध लोभ मद मत्सर आदि शत्रुओंका शासन यहां कभी न हो।

जो मंत्र आत्मापरक होते हैं वे अपने शरीरमें घटाने चाहिये, जो साक्षात् आत्मा परक नहीं हैं वे भी कुछ हेर फेरसे अपने शरीरमें घटाये जा सकते हैं। पर जो साक्षात् आत्माका वर्णन करते हैं वे तो अवश्य घटाने चाहिये। इस घटानेके समय अर्थकी दृष्टिसे किसी समय कुछ न्यूनाधिक करना आवश्यक भी होता है।

इच्छासे इष्ट परिणाम

अपने शरीरमें वेदमंत्रोंको घटानेसे अपने शरीरके स्वास्थ्यके विषयमें बडा लाभ प्राप्त होता है। अपने शरीरमें अपने मनकी इच्छा शक्तिसे इष्ट परिणाम लाया जा सकता है। इस कार्यके लिये मनुष्यकी इच्छा शक्ति प्रबल करनी चाहिये। इच्छा शक्तिसे विलक्षण हेरफेर शरीरमें होते हैं। 'मैं बीमार हो जाऊंगा' ऐसा माननेसे शरीरमें बीमारी उत्पन्न होनेकी संभावना रहती है। इसी तरह 'मुझे कभी बीमारी नहीं होगी, अथवा इस आयी बीमारीसे मैं शीघ्र अच्छा हो जाऊंगा,' ऐसे आरोग्यमय विचार मनमें स्थिर होनेसे मनुष्य नीरोग हो सकता है, अथवा रोग होनेपर उसको अतिशीघ्र दूर करना भी संभव हो सकता है। इस तरह इष्ट परिणाम अपने विचारोंके प्रभावसे शरीरपर हो सकता है। आरोग्य प्राप्त करना अथवा रोगी स्थितिकी निर्मिति करना यह बहुत अंशसे अपने मनपर अवलंबित है। मानस चिकित्साका यह बीज है। अपने शरीरपर वेद मंत्रोंको घटानेसे यह लाभ होता है। मैं इस शरीरका शासक हूं। मेरा नियत किया अनुशासन ही यहां चलेगा। दूसरे किसीका अनुशासन यहां नहीं चलेगा। ऐसा दृढ विश्वास होनेसे अपने शरीरमें अपनी सदिच्छासे यथेष्ट इष्ट परिणाम निर्माण किया जा सकता है।

आरोग्य प्राप्त करनेका यह सुगम उपाय है। इसलिये अपने मनमें सदा शुभ विचार ही रहेंगे ऐसा करना चाहिये। दुष्ट विचारोंको अपने मनमें आने देना उचित नहीं है। मनके शुभ विचारोंसे शुभ परिणाम और अशुभ विचारोंसे शरीरपर अनिष्ट परिणाम होता है।

(१) मैं यहांका—इस शरीरका ईश हूं, (२) यहां इस शरीरमें जो कुछ है उसपर मेरा अनुशासन चलेगा, (३) यहां इस शरीरमें सब शरीरके आश्रयसे सब इंद्रियाँ हैं, इसलिये इंद्रियोंको सब शरीरका स्वास्थ्य रखनेके लिये यत्नवान होना चाहिये, अपने इंद्रियोंके भोगोंपर संयम रखना चाहिये, (४) संयमपूर्वक त्यागसे भोग करना चाहिये, (५) भोग लालसा छोडनी चाहिये। (६) सब शरीरका मिलकर हित होनेके लिये यत्न करना चाहिये।

संक्षेपसे शरीरपर घटानेके लिये इस मंत्रसे यह आशय लेना योग्य है। सामाजिक और राष्ट्रीय बोध इससे पूर्व

बताया ही है। उससे (१) अर्थव्यवस्था और (२) स्वामित्वके सिद्धान्तके विषयमें बहुत बोध मिल सकता है।

स्वयं शासन

वैदिक समय स्वयं अनुशासनका समय था। जनता ही स्वयं अपना शासन करती थी। संरक्षण दल तथा अधिकारियोंको विशेष कार्य करना नहीं पडता था। प्रजाको स्वयं अनुशासित रहनेकी सुशिक्षा दी जाती थी।

वैदिक राज्यशासनमें जनताको स्वयं अनुशासनशील बनाना मुख्य है। किसी राष्ट्रकी सरकार विशेष कर धनी लोगोंपर लगाकर करोडों रु. राष्ट्रीय धन कोशमें जमा कर सकती है। परंतु लोग ही स्वयं प्रवृत्तीसे "अपना धन व्यक्तिका नहीं है वह सब जनताकी भलाईके लिये है" ऐसा मानकर प्रजापति संस्थाके अध्यक्षके पास लाकर अपना धन दें यह जनताकी जाग्रतिका विशेष लक्षण होगा।

ईशन शक्तिसे जो विशेष योग्य होगा उसको शासन पर नियुक्त करना, व्यक्ति समाजके लिये है, अतः व्यक्तिके भोगोंपर स्वयं संयम रखकर स्वयं ही त्यागसे भोग भोगना स्वयं लोभका त्याग करना और सब धन संपूर्ण जनताका है ऐसा मान कर अपना धन जनताकी भलाईके लिये स्वयं स्फूर्तिसे अर्पण करना यह वैदिक जीवनके स्वयं शासनका स्वरूप है।

ऐसी स्वयं अनुशासनशील अपनी प्रजा बने और परम कल्याण अपने अनुशासनसे प्राप्त करे, ऐसा सबको प्रयत्न करना चाहिये।

प्र श्न

"वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धांत" आपने पढ लिया होगा। ये विषय केवल पढनेके ही नहीं हैं, सूक्ष्मदृष्टीसे मनन करनेके हैं। वैदिक सिद्धान्तोंको व्यक्तिके तथा समाजके जीवनमें ढालना चाहिये। यह सूक्ष्म मननसे ही हो सकता है। इस निबंधमें इन प्रश्नोंके उत्तर हैं—

१ विष्णुके पास महालक्ष्मी है इसका भाव क्या है?
२ समाजवादी और साम्यवादी क्यों युद्ध करते हैं?
३ धन किसका है? धनका सच्चा स्वामी कौन है?
४ क्या निर्बलका धन है?
५ 'सुवीरां रयिं' इस वेदमंत्रका भाव क्या है?
६ 'कः' का अर्थ क्या है?
७ 'स्वित्' का भाव क्या है?
८ क्या धन युद्धका कारण है?
९ वेदमें युद्धके लिये महत्त्वके कौनसे शब्द हैं?
१० क्या धनके बंटवारा करनेमें झगडा होता है?
११ हम 'यह धन मेरा है' ऐसा कहते हैं, क्या यह सत्य नहीं है?
१२ प्रजापतिका क्या लक्षण है?
१३ क्या प्रजाका हित मुख्य है?
१४ सरकार 'कर' लेती है, उसका तत्त्व क्या है?
१५ हम क्यों लोभ छोडें?
१६ क्या मनुष्य भोगके विना जीवित रह सकता है?
१७ धन यज्ञके लिये है इसका भाव क्या है?
१८ भोगसे भोग और त्यागसे भोगमें कौन हितकर है?
१९ दान और भोगका उपयोग क्या है?
२० व्यक्ति स्वतंत्र है वा समाजका अंग है?
२१ अंगीके लिये अंगको क्या करना चाहिये?
२२ राजा और प्रजामें मुख्य और गौण कौन है?
२३ क्या समाजके आधारके विना व्यक्ति उन्नत हो सकती है?
२४ व्यक्ति समाजकी सेवा क्यों करे?
२५ 'सर्वमेध' यज्ञका रहस्य क्या है?
२६ बलवान और निर्बलमें कौन श्रेष्ठ है?
२७ अपने शरीरमें राष्ट्र किस तरह देखा जाता है?
२८ मानस शक्तिसे शरीरपर किस तरह परिणाम होता है?
२९ इच्छाशक्तिसे शरीरमें लाभ किस तरह होते हैं?
३० क्या अपनी मानस शक्तिसे अपने शरीरमें हानि भी हो सकती है? हानिको किस तरह टाल सकते हैं?
३१ शरीरमें स्वराज्य और राष्ट्रमें स्वराज्यका भाव क्या है?
३२ कौन शासक होने योग्य है और कौन नहीं?

इन प्रश्नोंके उत्तर अपनी कल्पनासे, नये प्रमाण देकर देनेका यत्न करें।